॥ श्रीहरिः ॥

नित्य-स्तुतिः



स्वामी रामसुखदास

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०४८ प्रथम संस्करण	३०,०००
सं० २०४९ द्वितीय संस्करण	२०,०००
सं० २०४९ तृतीय संस्करण	२०,०००
	कुल ७०,०००

मूल्य—अस्सी पैसे

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

दूरभाष—३३३०३०, ३३६९९७, ३३४७२१

॥ श्रीहरिः ॥

नित्यस्तुतिः

॥ श्रीहरिः ॥

नित्यस्तुतिः

गजाननं भूतगणादिसेवितं
कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम् ।
उमासुतं शोकविनाशकारकं
नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम् ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

(गीता २ । ७)

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

(८ । ९)

जो गजके मुखवाले हैं, भूतगण आदिके द्वारा सेवित हैं, कैथ और जामुनके फलोंका बड़े सुन्दर ढंगसे भक्षण करनेवाले हैं, शोकका विनाश करनेवाले हैं और भगवती उमाके पुत्र हैं, उन विघ्नेश्वर गणेशजीके चरणकमलोंमें मैं प्रणाम करता हूँ।

कायरताके दोषसे उपहत स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहित अन्तःकरणवाला मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित श्रेय हो वह मेरे लिये कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ। आपके शरण हुए मेरेको शिक्षा दीजिये।

जो सर्वज्ञ, पुराण, शासन करनेवाला, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करनेवाला, अज्ञानसे अत्यन्त परे, सूर्यकी तरह प्रकाश-स्वरूप—ऐसे अचिन्त्य स्वरूपका चिन्तन करता है।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥

हे देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवताओंको, प्राणियोंके विशेष-विशेष समुदायोंको, कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्माजीको, शंकरजीको, सम्पूर्ण ऋषियोंको और सम्पूर्ण दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ।

हे विश्वरूप ! आपको मैं अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंवाला तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देख रहा हूँ। मैं आपके न आदिको, न मध्यको और न अन्तको ही देख रहा हूँ।

मैं आपको किरीट, गदा, चक्र (तथा शंख और पद्म) धारण किये हुए देख रहा हूँ। आपको तेजकी राशि, सब ओर प्रकाश करनेवाले, देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्यके समान कान्तिवाले, नेत्रोंके द्वारा कठिनतासे देखे जाने योग्य और सब तरफसे अप्रमेयस्वरूप देख रहा हूँ।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥

आप ही जानने योग्य परम अक्षर (अक्षरब्रह्म) हैं, आप ही इस सम्पूर्ण विश्वके परम आश्रय हैं, आप ही सनातन धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मैं मानता हूँ।

आपको मैं आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त प्रभावशाली, अनन्त भुजाओंवाले, चंद्र और सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निके समान मुखोंवाले और अपने तेजसे संसारको संतप्त करते हुए देख रहा हूँ।

हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका अन्तराल और सम्पूर्ण दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस अद्भुत और उग्ररूपको देखकर तीनों लोक व्यथित (व्याकुल) हो रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥
(११।१५—२२)

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥

वे ही देवताओंके समुदाय आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमेंसे कई तो भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नामों और गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो ! मङ्गल हो !' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

जो ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्यगण, दस विश्वेदेव और दो अश्विनीकुमार, उन्चास मरुद्गण, सात पितृगण तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं, वे सभी चकित होकर आपको देख रहे हैं।

हे अन्तर्यामी भगवन् ! आपके नाम, गुण, लीलाका कीर्तन करनेसे यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुराग (प्रेम) को प्राप्त हो रहा है, आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे भयभीत होकर राक्षसलोग दसों दिशाओंमें भागते हुए जा रहे हैं और सम्पूर्ण सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं। यह सब होना उचित ही है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

हे महात्मन्! गुरुओंके भी गुरु और ब्रह्माके भी आदिकर्ता आपके लिये वे सिद्धगण नमस्कार क्यों नहीं करें? क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! आप अक्षर स्वरूप हैं; आप सत् भी हैं, असत् भी हैं और सत्-असत्से परे भी जो कुछ है, वह भी आप ही हैं।

आप ही आदिदेव और पुराणपुरुष हैं तथा आप ही इस संसारके आश्रय हैं। आप ही सबको जाननेवाले, जाननेयोग्य और परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे ही सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।

आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (ब्रह्माजीके भी पिता) हैं। आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!!

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥

हे सर्व ! आपको आगेसे नमस्कार हो ! पीछेसे नमस्कार हो ! सब ओरसे ही नमस्कार हो ! हे अनन्तवीर्य ! अमित विक्रमवाले आपने सबको समावृत कर रखा है; अतः सब कुछ आप ही हैं।

आपकी महिमा और स्वरूपको न जानते हुए 'मेरे सखा हैं ऐसा मानकर मैंने प्रमादसे अथवा प्रेमसे हठपूर्वक (बिना सोचे-समझे) हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इस प्रकार जो कुछ कहा है;'

और हे अच्युत ! हँसी-दिल्लगीमें, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समयमें अकेले अथवा उन सखाओं, कुटुम्बियों आदिके सामने मेरे द्वारा आपका जो कुछ तिरस्कार किया गया है, वह सब अप्रमेयस्वरूप आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ।

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥
(११ । ३६—४४)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

आप ही इस चराचर संसारके पिता हैं, आप ही पूजनीय हैं और आप ही गुरुओंके महान् गुरु हैं। हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है!

इसलिये शरीरसे आपके चरणोंमें पड़कर स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको मैं प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ। जैसे पिता पुत्रके, मित्र मित्रके और पति पत्नीके अपमानको सह लेता है, ऐसे ही हे देव! आप मेरे द्वारा किया गया अपमान सहनेमें समर्थ हैं।

हे प्रभो! आप ही माता और आप ही पिता हैं, आप ही बन्धु और आप ही सखा हैं, आप ही विद्या और आप ही धन हैं; हे देवोंके देव! आप ही मेरे सर्वस्व हैं।

हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्
हरिः शरणम् हरिः शरणम् हरिः शरणम्

॥ श्रीहरिः ॥

प्रार्थना

हे नाथ ! आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे प्यारे लगें। केवल यही मेरी माँग है, और कोई माँग नहीं।

हे नाथ ! अगर मैं स्वर्ग चाहूँ तो मुझे नरकमें डाल दें, सुख चाहूँ तो अनन्त दुःखोंमें डाल दें, पर आप मुझे प्यारे लगें।

हे नाथ ! आपके बिना मैं रह न सकूँ, ऐसी व्याकुलता आप दे दें।

हे नाथ ! आप मेरे हृदयमें ऐसी आग लगा दें कि आपकी प्रीतिके बिना मैं जी न सकूँ।

हे नाथ ! आपके बिना मेरा कौन है ? मैं किससे कहूँ और कौन सुने ?

हे मेरे शरण्य ! मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? कोई मेरा नहीं ।

मैं भूला हुआ कइयोंको अपना मानता रहा । उनसे धोखा खाया, फिर भी धोखा खा सकता हूँ, आप बचायें !

हे मेरे प्यारे ! हे अनाथनाथ ! हे अशरणशरण ! हे पतितपावन ! हे दीनबन्धो ! हे अरक्षितरक्षक ! हे आर्त त्राण परायण ! हे निराधारके आधार ! हे अकारणकरुणावरुणालय ! हे साधनहीनके एकमात्र साधन ! हे असहायके सहायक ! क्या आप मेरेको जानते नहीं, मैं कैसा भग्नप्रतिज्ञ, कैसा कृतघ्न, कैसा अपराधी, कैसा

विपरीतगामी, कैसा अकरणकरणपरायण हूँ। अनन्त दुःखोंके कारणस्वरूप भोगोंको भोगकर-जानकर भी आसक्त रहनेवाला, अहितको हितकर माननेवाला, बार-बार ठोकरें खाकर भी नहीं चेतनेवाला, आपसे विमुख होकर बार-बार दुःख पानेवाला, चेतकर भी न चेतनेवाला, जानकर भी न जाननेवाला मेरे सिवाय आपको ऐसा कौन मिलेगा ?

प्रभो ! त्राहि माम् ! त्राहि माम् !! पाहि माम् ! पाहि माम् !! हे प्रभो ! हे विभो ! मैं आँख पसारकर देखता हूँ तो मन-बुद्धि-प्राण-इन्द्रियाँ और शरीर भी मेरे नहीं हैं, फिर वस्तु-व्यक्ति आदि मेरे कैसे हो सकते हैं ! ऐसा मैं जानता हूँ, कहता हूँ, पर वास्तविकतासे नहीं मानता। मेरी यह दशा क्या आपसे किञ्चिन्मात्र भी

कभी छिपी है ? फिर हे प्यारे ! क्या कहूँ ! हे नाथ ! हे नाथ !! हे मेरे नाथ !!! हे दीनबन्धो ! हे प्रभो ! आप अपनी तरफसे शरणमें ले लें। बस, केवल आप प्यारे लगें।

भक्त-चरित्र पढ़कर, खूब अच्छा भाव बनाकर सुबह-शाम और मध्याह्न—तीनों समय भगवान्‌से यह प्रार्थना करनी चाहिये।

—परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज

सार बात

स्मृति (याद) दो प्रकारकी होती है—(१) क्रियात्मक, जैसे नाम-जप करना आदि और (२) ज्ञानात्मक। क्रियात्मक स्मृति निरन्तर नहीं रहती, पर ज्ञानात्मक स्मृति निरन्तर रहती है। जान लिया तो बस जान ही लिया। जाननेके बाद फिर विस्मृति—भूल नहीं होती। क्रियात्मक स्मृतिमें जब क्रिया नहीं होती, तब भूल होती है। ज्ञानात्मक स्मृतिकी भूल दूसरे प्रकारकी है। जैसे एक व्यक्ति अपने-आपको ब्राह्मण मानता है। वह दिनभरमें एक बार भी याद नहीं करता कि मैं ब्राह्मण हूँ। काम न पड़े तो महीनेभर भी याद नहीं करता। परन्तु याद न करनेपर भी

भीतर 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह ज्ञानात्मक याद निरन्तर रहती है। उससे कभी कोई पूछे तो वह अपनेको ब्राह्मण ही बतलायेगा। इस यादकी भूल तभी मानी जायगी, जब वह अपनेको गलतीसे वैश्य, क्षत्रिय या हरिजन मान ले। इसी तरह यदि संसारको रहनेवाला, सच्चा मान ले, तो यह भूल है। इसलिये यह अच्छी तरह मान लें कि संसार निरन्तर नाशमें जा रहा है। फिर चाहे यह बात याद रहे या नहीं। मानी हुई बातको याद नहीं करना पड़ता। मानी हुई बातकी ज्ञानात्मक स्मृति रहती है। बहनें-माताएँ मानती हैं कि 'मैं स्त्री हूँ' तो इसे याद नहीं करना पड़ता। भाई लोग मानते हैं कि 'मैं पुरुष हूँ' तो इसे याद नहीं करना पड़ता। ऐसे ही साधुको 'मैं साधु हूँ' ऐसे याद नहीं करना पड़ता, कोई माला नहीं फेरनी पड़ती। मान लिया तो बस

मान ही लिया। विवाह होनेके बाद व्यक्तिको सोचना नहीं पड़ता कि विवाह हुआ या नहीं। इसी तरह आप आज ही विशेषतासे विचार कर लें कि संसार प्रतिक्षण जा रहा है। यह अभी जिस रूपमें है, उस रूपमें यह सदा रह सकता ही नहीं।

दूसरी बात, जो संसार 'नहीं' है, वह 'है' के द्वारा ही दीख रहा है। जैसे, एक व्यक्ति बैठा है और उसके सामनेसे बीस-पचीस व्यक्ति चले गये। पूछनेपर वह कहता है कि बीस-पचीस आदमी यहाँसे होकर चले गये। यदि वह व्यक्ति भी उनके साथ चला जाता, तो कौन समाचार देता कि इतने व्यक्ति यहाँसे होकर गये हैं? पर वह व्यक्ति गया नहीं, वहीं रहा है, तभी वह उन व्यक्तियोंके जानेकी बात कह सका है। रहे बिना गयेकी सूचना कौन देगा? इसी प्रकार परमात्मा

रहनेवाला है और संसार जानेवाला है। यदि आप यह बात मान लें कि संसार जा रहा है, तो आपकी स्थिति स्वाभाविक ही सदा रहनेवाले परमात्मामें होगी, करनी नहीं पड़ेगी। जहाँ संसारको रहनेवाला माना कि परमात्माको भूले। संसारको प्रतिक्षण जाता हुआ मान लेनेसे परमात्माकी याद न आनेपर भी आपकी स्थिति वस्तुतः परमात्मामें ही है।

संसार जा रहा है—यह बहुत श्रेष्ठ और मूल्यवान् बात है, सिद्धान्तकी बात है, वेदों और वेदान्तकी बात है, महापुरुषोंकी बात है। परमात्मा रहनेवाले हैं और संसार जानेवाला है। वह परमात्मा 'है' रूपसे सर्वत्र परिपूर्ण है। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये युग बदलते हैं, पर परमात्मा कभी नहीं बदलते। वे सदा ज्यों-के-त्यों

रहते हैं। दो ही खास बातें हैं कि संसार नहीं है और परमात्मा हैं; संसार जानेवाला है और परमात्मा रहनेवाले हैं; यदि आपने इन बातोंको मान लिया, तो मानो बहुत बड़ा कार्य कर लिया, आपका जीवन सफल हो गया। फिर तत्त्वज्ञान, भगवत्प्राप्ति, मुक्ति आदि सब इसीसे हो जायेगी।

—तात्त्विक प्रवचनसे

भगवान्‌में अपनापन

वास्तवमें कोई भी मनुष्य अनाथ नहीं है। सब-के-सब मनुष्य सनाथ हैं। संसारमें प्रत्येक वस्तुका कोई-न-कोई मालिक होता है, फिर मनुष्यका कोई मालिक न हो—यह कैसे हो सकता है? जो सबके मालिक हैं, वे भगवान् हमारे भी मालिक हैं। हम उनको अपना मालिक मानें या न मानें, जानें या न जानें, पर वे हमें अपना जानते ही हैं। अतः अपनेको अनाथ समझना हमारी भूल है।

मनुष्यको अपनेमें अनाथपनेका अनुभव क्यों होता है? जब वह किसी वस्तु-व्यक्तिको अपना मान लेता है, तब उसका अभाव होनेसे उसको अपनेमें अनाथपनेका अनुभव होने लगता है। यह नियम है कि जब मनुष्य अपनेको किसी वस्तु-व्यक्तिका मालिक मान लेता है, तब वह अपने मालिकको भूल जाता है। जैसे, बालक माँके बिना नहीं रह सकता; परन्तु जब वह बड़ा

हो जाता है और स्त्री, पुत्र आदिको अपना मानने लगता है, तब वह उसी माँकी उपेक्षा करने लगता है। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने शरीरको अपना माननेवाले अर्थात् अपनेको शरीरका मालिक माननेवाले जीवात्माको 'ईश्वर' नामसे कहा है—**'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः'** (१५।८)। अगर मनुष्य भगवान्‌के सिवाय किसीको भी अपना न माने तो उसका भूलसे माना हुआ अनाथपना मिट जायगा और सनाथपनेका अनुभव हो जायगा।

वास्तवमें भगवान् ही सदासे अपने हैं। संसार पहले अपना नहीं था, पीछे अपना नहीं रहेगा और अब भी वह निरन्तर हमारेसे बिछुड़ रहा है। परन्तु भगवान् पहले भी अपने थे, पीछे भी अपने रहेंगे और अब भी वे अपने हैं। वे हमें कभी नहीं मिलते तो भी अपने हैं, सर्वथा मिलते हैं तो भी अपने हैं और कभी मिलते हैं, कभी नहीं मिलते तो भी अपने हैं। परन्तु संसार सर्वथा मिला हुआ दीखनेपर भी अपना नहीं है। कारण कि जो

सदा हमारे साथ नहीं रह सकता और हम सदा जिसके साथ नहीं रह सकते, वह अपना नहीं हो सकता। अपना वही हो सकता है, जो सदा हमारे साथ रहे और हम सदा उसके साथ रहें अर्थात् जो हमारेसे कभी न बिछुड़े और हम उससे कभी न बिछुड़ें।

एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि संसारमें जिसको हम अपना मानते हैं, वह तो नहीं रहता, पर उससे माना हुआ अपनापन रह जाता है अर्थात् सम्बन्धी तो नहीं रहता, पर सम्बन्ध रह जाता है ! जैसे, किसी स्त्रीको विधवा हुए बहुत वर्ष बीत गये, पर पतिका नाम सुनते ही उसके कान खड़े हो जाते हैं अर्थात् पतिके न रहनेपर भी उसका पतिके साथ सम्बन्ध बना रहता है कि मैं अमुककी पत्नी हूँ। यहाँ शंका होती है कि पिताके न रहनेपर यदि पुत्र पितासे सम्बन्ध न माने तो वह श्राद्ध-तर्पण कैसे करेगा, जो कि शास्त्रका विधान है ? इसका समाधान है कि अपने स्वार्थके लिये, अपने

सुखभोगके लिये माना हुआ सम्बन्ध ही बाँधनेवाला है। पितृऋण उतारनेके लिये, सेवा करनेके लिये माना हुआ सम्बन्ध बाँधनेवाला नहीं होता, प्रत्युत सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला होता है*।

तात्पर्य है कि अगर वस्तुएँ अपनी दीखती हैं तो वे केवल दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये, सदुपयोग करनेके लिये अपनी हैं। अगर व्यक्ति अपने दीखते हैं तो वे केवल निःस्वार्थभावसे सेवा करनेके लिये अपने हैं। अपने लिये कुछ भी अपना नहीं है। अपने

---

* ऋणी और अपराधीकी जल्दी मुक्ति नहीं होती। फल-भोगसे अथवा दान-पुण्यादि शुभकर्मोंसे पाप तो नष्ट हो जाते हैं, पर ऋण और अपराध नष्ट नहीं होते। जिस व्यक्तिसे ऋण लिया है अथवा जिस व्यक्तिका अपराध किया है, वे माफ कर दें तभी ऋण और अपराधसे मुक्ति होती है। मूलमें संसारको अपना माननेसे ही मनुष्य ऋणी, गुलाम, अनाथ, तुच्छ तथा पतित होता है। जो संसारमें कुछ भी अपना नहीं मानता, वह किसीका ऋणी और अपराधी बनता ही नहीं; क्योंकि जब आधार ही नहीं रहेगा तो फिर ऋण, अपराध आदि कहाँ टिकेंगे—'मूलाभावे कुतः शाखा'?

सुख-आरामके लिये वस्तु-व्यक्तिको अपना मानना जन्म-मरणका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३ । २१) । इसलिये जो संसारमें कुछ भी अपना मानता है, उसको कुछ भी नहीं मिलता और जो कुछ भी अपना नहीं मानता, उसको सब कुछ मिलता है अर्थात् भगवान् मिलते हैं।

अपनी बुद्धि, विचार, सामर्थ्यसे वस्तुओंका दुरुपयोग न करके उनका सदुपयोग करनेसे वस्तुओंसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है और निःस्वार्थभावसे सेवा करनेसे व्यक्तियोंसे माना हुआ सम्बन्ध मिट जाता है। सम्बन्ध मिटनेसे मुक्ति हो जाती है। यहाँ शंका होती है कि संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेपर भी जीवन्मुक्त महापुरुष दूसरोंकी सेवा (हित) में क्यों लगे रहते हैं? इसका समाधान है कि साधनावस्थामें ही उनका स्वभाव प्राणिमात्रका हित करनेका रहा है—'**सर्वभूतहिते रताः**' (गीता ५ । २५, १२ । ४),

इसलिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष न रहनेपर भी उनमें सबका हित करनेका स्वभाव रहता है—'**स्वभावस्तु प्रवर्तते**' (गीता ५ । १४) । तात्पर्य है कि दूसरोंका हित करते-करते जब उनका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, तब उनको हित करना नहीं पड़ता, प्रत्युत पहलेके स्वभावसे उनके द्वारा स्वतः दूसरोंका हित होता है।

भगवान्के सिवाय हम जिसको भी अपना मानते हैं, वह अशुद्ध हो जाता है; क्योंकि ममता ही मल (अशुद्धि) है—'**ममता मल जरि जाइ**' (मानस ७ । ११७ क) । इतना ही नहीं, उसको अपना मानकर हम उसके मालिक बनना चाहते हैं, पर वास्तवमें उसके गुलाम बन जाते हैं; उसको ठीक करना चाहते हैं, पर वास्तवमें वह बेठीक हो जाता है। हम जिन शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहम् तथा स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, धन, जमीन, मकान, आदिको अपना मानते हैं, वे सब

अशुद्ध हो जाते हैं और उनके सुधारमें बाधा लग जाती है। परन्तु उनको अपना न माननेसे वे भगवान्‌की शक्तिसे शुद्ध हो जाते हैं, प्रसाद बन जाते हैं, उनमें विलक्षणता आ जाती है; क्योंकि वास्तवमें वे भगवान्‌के ही हैं।

तात्पर्य है कि वस्तुको अपना माननेसे वह अशुद्ध हो जाती है और हम अनाथ तथा पराधीन हो जाते हैं। अगर हम वस्तुको अपना न मानें तो वस्तु शुद्ध हो जायगी और हमें अपने सनाथपनेका तथा स्वाधीनताका अनुभव हो जायगा।



गीताप्रेस, गोरखपुरकी निजी दूकानें

फोन नं०	
३८६८९४ ३८०२५१	(१) **कलकत्ता**—गोविन्द-भवन-कार्यालय, १५१, महात्मा गाँधी रोड
३२६९६७८	(२) **दिल्ली**—गीताप्रेस, पुस्तक-दूकान, २६०९, नई सड़क
	(३) **पटना**—गीताप्रेस, पुस्तक-दूकान, अशोकराजपथ
२५२३५१	(४) **कानपुर**—गीताप्रेस, पुस्तक-दूकान, २४ । ५५, बिरहाना रोड
	(५) **हरिद्वार**—गीताप्रेस, पुस्तक-दूकान, सब्जीमंडी, मोतीबाजार
५७१५१	(६) **वाराणसी**—गीताप्रेस, कागज-एजेंसी, ५९ । ९, नीचीबाग
३०१२२	(७) **स्वर्गाश्रम**—गीताभवन, गङ्गापार, स्टेशन ऋषिकेश (पौड़ी-गढ़वाल)
३३३०३०	(८) **गोरखपुर**—गीताप्रेस, गोरखपुर

परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा विरचित उपलब्ध साहित्य

१. साधक-संजीवनी—गीताकी विस्तृत टीका (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी)
२. गीता-माधुर्य (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी, नेपाली, गुजराती, तमिल, बँगला, कन्नड़, उर्दू
३. गीता-दर्पण (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी)
४. वासुदेवः सर्वम्
५. नित्ययोगकी प्राप्ति
६. सहज साधना
७. महापापसे बचो (हिन्दी, बँगला)
८. सन्तानका कर्तव्य (हिन्दी, बँगला)
९. आवश्यक शिक्षा
१०. सच्चा गुरु कौन ?
११. एकै साधै सब सधै
१२. सत्संगकी विलक्षणता
१३. साधकोंके प्रति
१४. कल्याणकारी प्रवचन (हिन्दी, अँग्रेजी, गुजराती)
१५. तात्त्विक प्रवचन (हिन्दी, गुजराती)
१६. मानसमें नाम-वन्दना
१७. वास्तविक-सुख
१८. भगवन्नाम (हिन्दी, अँग्रेजी)
१९. कर्म-रहस्य (हिन्दी, तमिल)
२०. गृहस्थमें कैसे रहें ? (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी, बँगला)
२१. भगवान्से अपनापन
२२. जीवनका सत्य
२३. भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
२४. स्वाधीन कैसे बनें ? (हिन्दी, अँग्रेजी)
२५. शरणागति
२६. सत्संगका प्रसाद
२७. अच्छे बनो
२८. जीवनका कर्तव्य
२९. जीवनोपयोगी कल्याणमार्ग
३०. सच्चा आश्रय
३१. नाम-जपकी महिमा
३२. मूर्ति-पूजा (हिन्दी, बँगला)
३३. हम ईश्वरको क्यों मानें ? (हिन्दी, बँगला)
३४. दुर्गतिसे बचो (हिन्दी, बँगला)
३५. साधन और साध्य
३६ मातृशक्तिका घोर अपमान
३७. जिन खोजा तिन पाइया

मिलनेका पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ०प्र०)